प्राइवेट लाइफ़

बाहर संसार का बेकार शोर उठ रहा था और बंद खिड़की की दरारों से कमरे में दाख़िल हो रहा था। उसने चाहा कि वह खिड़की खोल दे, पर फिर बंद छोड़ देना ही बेहतर समझा।

उन्होंने वे चप्पलें उसके मुँह पर दे मारीं और पागलों की तरह चीखे, "बताओ यह कहाँ से आईं?"

चाची सिसक-सिसककर रो रही थीं।

उसके मन में छाए घने सियापे को कुछ बेध नहीं पा रहा था।

"यह क्यों बताएगी? मैं अभी रस्तोगी को बुलाता हूँ। वह बताएँगे। यहीं, इसके सामने। तब देखते हैं यह कैसे घूरती है।"

रस्तोगी मकान-मालिक थे। पाँच महीनों से अंदर ही अंदर भरते चले गए थे। अब जब मौक़ा मिला तो टूटे बाँध की तरह फट पड़े।

पाँच महीने वह भी छिपा गई थी कि उसने यह बरसाती ले ली है और होस्टल छोड़ दिया है। तनख्वाह का एक चौथाई से कुछ अधिक किराये में लुट जाता था, पर उसे वह मंज़ूर था। अपने घर की तमन्ना बहुत तीव्र हो चुकी थी, जिसे वह अपनी पसंद से सजा सके, जहाँ वह अपने दोस्तों को बुला सके··· एक भरी-पूरी ज़िंदगी जिए। बरसाती के कण-कण पर उसने अपने व्यक्तित्व की छाप लगाई थी। खुद डिज़ाइन किए केन फर्नीचर से सुसज्जित किया था। छत पर 'बौन साई' के पेड़ एकत्र किए थे। रसोई में लकड़ी के बर्तन भर दिए थे। गैस, सैकेंड-हैंड फ्रिज, म्यूज़िक सिस्टम, सबके लिए जगह बना ली थी। दोस्तों का आना-जाना चल निकला था।

उसे मालूम था, उन्हें भी, चाची को भी, यह कभी गवारा नहीं होगा कि वह अकेली घर बनाकर रहे। ऐसे ही उनके मन में सैकड़ों मलाल थे। वह उसे नौकरी करने से नहीं रोक पाए थे। शादी के लिए उसे किसी तरह राज़ी नहीं करा पाए थे। पहाड़ की तरह उसकी उम्र हो रही थी, पर वह उसे 'इज़्ज़त' से बसर करने को तैयार नहीं कर पाए थे। वह उनके लिए खटकता काँटा बन गई थी।

एक सीमा तक वह बदलते ज़माने के साथ चलने में ऐतराज़ नहीं करते थे। उसकी सखियों में एक मुसलमान भी थी—उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। पर हर बात की हद होती है। वह तो जैसे कहीं भी रुकने को तैयार नहीं थी। कितनी भी उसकी रस्सी ढीली छोड़ो, वह खूँटे से और दूर होना चाहती थी।

और आज तो जैसे उसने रस्सी ही तोड़ दी थी। उनके विश्वास को गहरी ठेस पहुँचाई थी। एक बरसाती में ···अकेली ···बिना बताए पाँच महीने से रह रही थी। और ···और ···वह आदमी ···ये चप्पलें ···।

दुख से वे तिलमिला उठे, "अड्डा चलाए और हम चुपचाप देखें !"

वह चुप रही। क्या उसने कोई नासमझी की थी जो खुद ही चाची को अपनी बरसाती के बारे में बता दिया था ? पर अपना नाम-पता छिपाकर भी जिया जाता है क्या ? वह भी अपने ही घरवालों से ? फिर छिपाए क्यों ? उसका भी तो हक है जीने का। ज़िंदगी को समझने का। यह कैसे हो सकता है कि ज़ीने को गुनाह मान, खुद को गुनहगार समझ सबसे कतराती फिरे ?

पर उन्हें यह सब बेबुनियाद बकवास लगी थी—"आग में हाथ डालकर आग को नहीं पहचाना जाता।"

उसने भी जोश में जवाब दे दिया था, "गाड़ी के नीचे न आ जाएँ, इस डर से सड़क पर ही न निकलें, यह कहीं की बुद्धिमानी नहीं है।"

वे बिलबिला उठे थे, "किस कदर ढीठ होती जा रही है। कोई इससे कुछ न कहे, बस इसे आज़ाद छोड़ दे और यह जो चाहे करती रहे ···"

वे चुप ही नहीं हो पाए थे, "अलग, अकेले रहने की क्या ज़रूरत पड़ गई ? होस्टल में कौन-सी कमी है ? हर सहूलियत है, इज़्ज़त है, सुरक्षा है, कोई देखनेवाला है ···"

यही तो वह कह रही थी। किसी देखनेवाले की ज़रूरत नहीं है। उसकी दिनचर्या तय करनेवाला कोई और नहीं होगा।

वे ज्वालामुखी की तरह फूट पड़े थे, "यह ज़रूरी होता है। हमारे समाज में लड़की हमेशा किसी की निगरानी में रहती है। पहले बाप, फिर पति, फिर बेटा उसकी देख-भाल करता है।"

"पर मैं अपनी देख-रेख खुद करूँगी।" उसे लगा, कैसी ज़िल्लत है जो ऐसी बात को शब्द देने पड़ रहे हैं। जैसे कहना पड़े—मुझे रातों को सोने का इख़्तियार है।

"तुम कितनी अच्छी तरह करोगी वह तो मैं देख रहा हूँ।" वे उफनते ही चले गए, "ख़ानदान की आबरू से खिलवाड़ कर रही हो। ···हमारे समाज में लड़की बहुत बड़ी हस्ती होती है ···देवी होती है। उसकी इज़्ज़त हल्की-फुलकी नहीं होती। ···बहुत सँभलकर चलना होता है। हर कदम फूँककर रखना पड़ता है। ···लड़की के पलक झपकने का भी मतलब लगाया जाता है। ···इज़्ज़त सबसे मूल्यवान वस्तु है ···।"

हाँ, उसे मालूम था वह कम बोलना और कम नज़र आना, जो लड़की की इज़्ज़त बनाता है। उसके बचपन में वे, उसे भी और माँ को भी, निरन्तर सुनाते थे —'ऐसे रहो कि किसी को पता न चले कि घर में कोई है।'

उसने कहना शुरू किया, "जिसे आप इज़्ज़त समझते हैं, उसे मैं अपनी सबसे बड़ी बेइज़्ज़ती मानती हूँ।"

"बकवास मत करो," वे चीख उठे, "बेवकूफ़ हो ··· समझती नहीं ···।"

उसने उनके काँपते हाथों को देखा। उनके बूढ़े तमतमाते चेहरे को देखा। उनकी आँखों में कट्टरपन की लौ देखी।

उसकी सारी बातें उन्हें बनावटी लग रही होंगी। बड़ी-बड़ी किताबों से रटी हुई।

उसने शांत स्वर में कहा, "मैं अपने ढंग से जीना ठीक समझती हूँ। आप समझ सकते हैं तो यहाँ रहिए। ज़बर्दस्ती तो मैं समझा नहीं सकती। मैंने तो यही चाहा था कि आप भी मेरे जीवन में शरीक हों। ··· पर मेरी बेइज़्ज़ती करने के लिए नहीं ··· मेरे व्यक्तित्व की ··· मेरी प्राइवेट लाइफ़ की ··· आपको कद्र करनी ही पड़ेगी। आपको अच्छा नहीं लगता तो चले जाइए ···।"

उनके बदन में सनसनी फैल गई। "यह मजाल ··· ?" उन्होंने लपककर उसकी बाँह जकड़ ली।

उसने झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया। 'डुप्लीकेट' चाभी उठाकर वह दरवाज़े की तरफ़ मुड़ गई। जाते-जाते बोली, "देखिए, है तो यह मेरा ही घर। आप अच्छे-से रह सकते हैं तो ठीक है। तोड़-फोड़ मचाना है तो चले जाइए।" वह खुद पर ज़ब्त न

कर पाई, "यू कैन गेट आउट।"

कहकर वह चली गई।

वे पागल हाथी की तरह चक्कर काटने लगे। यह कैसे हो सकता है? अपना खून है। उसे हर हालत में बचाना होगा। आख़िरी दम तक उसके पीछे जाना होगा। उसका दिमाग़ फिर गया है। अपने को, सबको, बरबाद करके रख देगी।

ऐसे ही क्षण की रस्तोगी को तलाश थी—"साहब, हमारे संग चाय पीजिए।"

रस्तोगी बैंक में काम करते थे। उनकी एक पत्नी और चार लड़कियाँ थीं। जैसे-तैसे उन्होंने यह घर बना लिया था और ऊपर के दो कमरे किराए पर उठा दिए थे। सिगरेट-शराब का बंदोबस्त इस तरह हो गया था। बीवी-बेटियों की ख़ातिर उन्होंने वह किया जो बिरले करते हैं—अकेली औरत को बरसाती दे दी। उन्हें लगा था वे दिन-भर बैंक में रहते हैं, घर पर सब अकेले होते हैं, किरायेदार कोई शांत महिला होगी तो अच्छा ही रहेगा। यह लड़की पास की एम्बैसी में ट्रांसलेटर थी, पढ़ी-लिखी थी और भले खानदान की दिखती थी। ठीक ही रहेगी।

पर···

अब उन्हें अपनी भूल का अहसास हो रहा था। उनकी भी मोहल्ले में कोई इज़्ज़त है। सच तो यह है कि इस उम्र पर, भले या बुरे घर की लड़की अकेली हो तो हर समझदार इन्सान के मन में प्रश्न उठना चाहिए। रस्तोगी मन ही मन कुढ़ने लगे। किस तरह कुछ करें, सूझ ही नहीं रहा था। यह लड़की है या कुछ और? छत पर बैठकर आदमियों के संग सिगरेट पीती है। खुले आम। नए वर्ष पर रस्तोगी को शराब की दुकान पर मिल गई थी। बियर खरीद रही थी। और वह काले चश्मेवाला फिरंगी आए दिन उसके घर में घुसा रहता है। दो रात वहाँ ठहरा भी था। शायद हवाई अड्डे से सीधा आ गया था—उसके सूटकेस पर 'आलीतालिया एयरवेज़' की चिप्पी लगी थी।

"देखिए साहब, आप हमारे बुज़ुर्ग हैं। आपका सम्मान करता हूँ। पर बुरा न मानिए··· लड़कियों का इतना आधुनिक होना··ठीक नहीं··दस तरह की बातें होती हैं···"

"हाँ-हाँ बिल्कुल ठीक कह रहे हैं आप। आपकी भी लड़कियाँ हैं···"

"हाँ साहब, इसीलिए बोल रहा हूँ··· बुरा न मानिएगा··· आप बड़े आदमी हैं··· यहाँ··· इस घर में बैठकर··· सिगरेट पिए···"

सिगरेट··· बियर··· फिरंगी···!

उनके सिर पर जुनून सवार हो गया।

"आप निश्चिन्त रहिए। कुछ महीनों की थी तब से मेरे साथ है··· मेरा खून है··· मैं देख लूँगा··· इन्हीं हाथों से चार टुकड़े कर दूँगा।"

"हमारे यहाँ लड़कियाँ किसी के सामने नहीं आती हैं," उन्होंने उससे चिंघाड़कर कहा था, "किसी को अपना स्पर्श नहीं करने देतीं। बाप तक को नहीं।"

सच कह रहे थे। जब उसने सड़क पार करते वक्त बचपन में उनका हाथ थाम लिया था तब उन्होंने कहा था कि लड़कियों को अपनी माँ का हाथ पकड़ना चाहिए।

उसके मन में यादों का अंबार फूटा। वह छोटी लड़की जिसको देखकर उन्होंने गंभीर आवाज़ में कहा था, "अब तुम बड़ी हो रही हो।"

वह बेइज़्ज़त हो गई थी। वे उस पर आरोप लगा रहे थे। उसे अपने बदन पर शरम आ गई।

तब वह फ्रॉक पहनती थी। उन्होंने एक दिन चाची को डाँट दिया और उसे फ्रॉक के नीचे पैंट पहनवा दी—पूरी टाँगों को ढकती हुई।

शायद उसके व्यक्तित्व ने बढ़ना बंद कर दिया, जिस दिन उसका बदन बढ़ने लगा।

"हमारे यहाँ नारी का बहुत ऊँचा आदर्श है। उसे अपने आपको सबसे दूर रखना है। बदन को चादर में लपेट के रखना है।"

वह शरम से सिमटती चली गई थी। जितना ही उसका बदन बढ़ा था, उतनी ही वह सिकुड़ गई थी। उसका सारा अस्तित्व उन उभरते गोलों में जाकर समा गया था। उसकी सारी चेतना और उसके जीवन-भर की चेष्टा उन गोलों को छिपाने में लग गई, मानो सारी दुनिया उनकी भूखी है और उसकी सारी जान उनमें समाई हो।

जब शाम ढले गाड़ी एक गाँव के पास पंक्चर हो गई थी तो वह भयभीत हो उठी। उन्होंने ड्राइवर को भेजकर गाँववालों को पहिए की मरम्मत करने के लिए बुलवाया। दबे स्वर में उससे कहा कि चुपचाप पीछे की सीट पर लेट जाओ। वह घबराकर चाची की गोद में दुबक गई थी और चाची ने उसे दोहर से ढँक दिया था। आदमियों की भारी-भारी आवाज़ें उसके कानों में एक असह्य युग तक गूँजती रहीं। फिर खुदा के फ़ज़ल से गाड़ी चल पड़ी थी।

वे भी सोचते होंगे—न जाने क्या कमी रह गई उनके सिखाने में। क्यों यह खब्त

सवार हुआ इस पर जो अपने अस्तित्व को अपने बदन से अलग देखने लगी। इतनी आज़ाद-ख़याल हो गई। वे अपने आपको कोसते रहे जो उसे इस नई तालीम का भागीदार बनाया। तभी बड़े-बूढ़े कहते हैं कि लड़की को ज़्यादा पढ़ाना नहीं चाहिए। उस पर कड़ी निगाह रखनी चाहिए।

उन्होंने उसे बहुत अकेला छोड़ा। उन्हें पता ही नहीं चला कि उसके दिमाग़ में क्या आकृतियाँ घर कर रही हैं। एक बार उन्होंने उसे स्कूल की किताब में छिपाकर प्रेमकहानी पढ़ते पकड़ा था। उस पर बिगड़े भी थे—'हमारे यहाँ लड़कियाँ सबकुछ देर से जानती हैं। वे पवित्र होती हैं।'

फिर कभी उन्होंने सीमोन दी बूवुआ की किताब, जो वह पढ़ रही थी, हमेशा के लिए छिपा दी थी। चाची से कहा भी था कि अकेले मत छोड़ा करो, कोई ग़लत चीज़ न सीखने पाए।

उसे वह दिन भी याद आया जब वह छाँटकर मीठे अमरूद लाई थी और बचपने की एक छलाँग लगाकर उनके दफ़्तर में कूद आई थी। तब उन्होंने बहुत ज़ोर से उसे डाँट दिया था, क्योंकि वह तेरह वर्ष की थी और पतली-सी नाइटी पहने अंदर आ धमकी थी, टाइप बाबू के सामने। तब भी उन्होंने कहा था—'हम किसी को अपना बदन नहीं देखने देते। दूर से नमस्कार करके अंदर चले जाते हैं।'

उसके सिमटे हुए बचपन ने उसे झुककर चलना सिखा दिया। अपनी ही काया पर शरमाकर सबसे कतराना सिखा दिया। सबकी नज़र के डर ने उसे सन्नाटे में रहना सिखा दिया।

पर वह तो बचपन की बात थी, बौने बचपन की। सन्नाटे में भी न जाने कहाँ से सोच की चिंगारी दबी पड़ी थी। अनजाने में झोंके आते रहे और आग भड़क उठी।

जब उन्हें पता चला, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। उसने उनके हर नियम का, हर आदर्श का उल्लंघन कर दिया। वे कहते थे, वह बेशरम हो गई है। वह कहती थी, वह स्वाभिमानी हो गई है। कहती थी, वह एक जिस्म से इन्सान बन गई है। वे कहते थे, वह एक इन्सान से गन्दा जिस्म बन गई है।

"कोई और शब्द नहीं बचा तुम्हारे लिए। गिर गई हो। नीच···औरत बन चुकी हो। पागल···दुराचारी···अपने इन बूढ़े चाचा-चाची की मौत बन गई हो।"

"जहाँ सब कपड़े पहन के घूमते हैं, वहाँ निर्वस्त्र घूमोगी?" वे चिल्ला पड़े।

"आप चले जाइए," उसके मुँह से दृढ़ स्वर निकला, "मेरी अपनी राह है। इस

उम्र में मुझे अपने हिसाब से जीने का हक है। आपको मेरे ढंग नहीं रुचते तो आप जा सकते हैं।"

उस वक्त वे चले गए थे। पर जाकर वे रोते रहे। चाची को दुत्कारते रहे।

वह भी रोई थी अपनी तीस वर्ष की नाकामी पर। अकेली होकर, समाज में इज़्ज़त न पाने की लाचारी पर। आदमी न होकर, उसकी तरह जीने की चाह की लानत पर।

जीवन का मनचलापन वह कबूल करे, यह हक उसे नहीं था। नई दिशाओं, नई मंज़िलों की तलाश उसके लिए नहीं। और अगर खुली हवा के थपेड़े लग ही गए तो हमदर्दी करनेवाला कोई नहीं। यह कौन मानेगा कि उसका भी जीवन पूछ-पूछकर नहीं आता?

याद है हर इतवार को बरसातियों के वे इश्तिहार देखना। किसी ने फ़ोन पर मना कर दिया। किसी ने उसके पीछे नज़र फेंकी—'आप··· अकेली··· माफ़ कीजिए' और किसी ने कानून गिनाने शुरू कर दिये—'रात को कोई आदमी मेहमान न हो·· शोर न हो··· मिलनेवालों की लिस्ट बना दीजिए।'

फिर रस्तोगी ने, बिना कुछ कहे-सुने उसे बरसाती दे दी। वैसे उनकी बीवी पूरी कोशिश करती कि कुछ जान जाए। कभी सिगरेट-पैकेट देखकर उसकी आँखें फैल जातीं, कभी किसी आदमी की झलक पाकर। और तो और, जैसे ही वह अपनी डाक देखने सीढ़ी से उतरती, वह भी धमू-धमू अपनी डाक जाँचने उतर आती, मानो दरवाज़े की ओट में बस उसी की ताक में बैठी रहती हो।

चिट्ठियाँ उठाते हुए पूछती, "आपके माँ-बाप ने आपकी शादी नहीं की?"

"मैंने नहीं की।" उसे थोड़ा गुस्सा आता।

सो तो ठीक है, रस्तोगिनी सोचती होंगी। एक-आध ऐसी रह ही जाती हैं। पर फिर यह रंगरलियाँ कैसी, यह सजने-धजने की धुन कैसी, यह मिलने-मिलाने का शौक़ कैसा?

हाँ, बात साफ है। या तो लकीर पर चलो और ठस्से से चलो। माँग में सिन्दूर, माथे पर बिंदिया, हाथ में चूड़ियाँ—इतराओ अब··· या संन्यास ले लो···।

बस, इज़्ज़तदार औरतों के लिए यही दो रास्ते हैं। इनके अलावा सब रास्ते, तीसरा रास्ता है—कुलटाओं का।

उसकी भी ज़िद हो गई कि दबंग बनूँगी, किसी को फुसलाने की कोशिश नहीं

करूँगी। जब अज्जु भइया रहने आए और ख़त की पेटी के पास मकान-मालकिन पूछ बैठीं—'कौन आए हैं ? बड़ी तैयारियाँ हैं' तो उसने 'मेहमान' कहकर मुँह फेर लिया।

इन इज़्ज़त के भूखों की कुढ़न बढ़ती गई।

पर अब खेल का वारा-न्यारा करना उनके बूते का बन चुका था।

रात नौ बजे फिरंगी उसे संगीत-सम्मेलन में ले जाने आया तो रस्तोगी, जो अपने अतिथि के लिए नहीं खड़े होते थे, सरपट सरपट दौड़े गए कि कहीं मेहमान ऊपर तशरीफ़ ले जाने का इरादा न बदल दे। जीने का दरवाज़ा खोल आए।

ऊपर वे बैठे थे। स्तब्ध।

वह उठी—"मैं देर से लौटूँगी"—और चली गई।

उन्हें मानो लकवा मार गया। सुन्न। कोई पुराना तजुरबा हो तो सूझती कैसे निपटाएँ। पर इस तरह लड़की आँख मिलाकर चल दे ···उस ···लफ़ंगे के साथ ···।

नहीं, चुप नहीं बैठ सकते। किसी हालत में नहीं। वे दाँत पीसकर गुर्राए थे, "बूढ़ा हूँ पर यह न समझो बेकार हूँ··· ऐसा सबक सिखाऊँगा कि इस देश में आना भूल जाएगा ···एक हड्डी साबुत नहीं बचेगी ···।"

वे हाथ मलते रह गए।

तब पत्नी के पैरों पर गिरे और उन्हें साथ लेकर फिर आए। अचानक। आधी रात को।

"यह मैं क्या सुन रही हूँ ?" चाची रोने लगीं।

उसने समझाने की कोशिश की, "चाची, सबका हक है ···सबकी प्राइवेट लाइफ़ है ···।"

"प्राइवेट लाइफ़ ···!" उनकी चीख गले में अटकने लगी थी, "सुनती हो ? अब यह प्राइवेट लाइफ़ चलाएगी ···देख रही हो ···धंधा ···।"

और सत्र-से वे चप्पलें उसके कान को रेतती हुई दीवार से टकराकर नीचे गिर गईं।

"किसकी हैं ये चप्पलें ? पूछो ···बताओ ···रस्तोगी जी, एक मिनट आइए। देखिए हमारी पत्नी—बूढ़ी हैं, लँगड़ी हैं, चल नहीं पातीं—परेशान होकर आई हैं। आप बताइए, क्या होता है यहाँ···।"

वह ठगी-सी बैठी रही।

रस्तोगी ने उसके नाम आए ख़त सामने रख दिए।

"पूछो इससे ···पूछो ···इस ···"

शायद बेज़ार रातों का ज़िक्र कर दिया हो। या उसकी कमर के तिल को याद किया हो।

उसने देखा, वहीं, उसके सामने, बर्बरता से उसकी अंतड़ियाँ बाहर खींची जा रही थीं।

"आदमी जानवर होता है। भूखा भेड़िया। वह औरत की इज़्ज़त नहीं करता है। ··· उसे ··· खाता है···।"

उसे दिख रहा था, वही, उतना ही, जो उन्हें दिख रहा था ···।

पता नहीं अब भी वे नंगी तस्वीरें देखते हैं कि नहीं। तब उनके तकिए के नीचे, अक्सर, फिरंगी पत्रिकाएँ पड़ी रहती थीं, जिनमें जिस्मों की नुमाइश थी। आदमियों के 'खाने' के लिए ···।

पत्रिका का अगला पन्ना खुल गया, जो हमेशा खुला रहेगा, जो निरंतर उन्हें दिख रहा होगा।

उस पर वह होगी ···।

उनकी भद्दी निगाह पर उसकी आँखें झुक गईं।

रस्तोगी उठकर चले गए थे। गंजे सिर और खिचड़ी मूँछोंवाले सज्जन ने अपनी डगमगाती इज़्ज़त मोहल्ले में सँभाल ली थी।

चाची ···। चाची तो पैदा ही हुई थी रोते हुए !

वे गुस्से और शर्म से काँप रहे थे।

"हमारी लड़कियाँ पवित्र होती हैं ···वे सबकुछ देर से जानती हैं ···हमसे कहती है निकल जाओ ··· हम तुम्हें निकालेंगे ··· रस्तोगी तुम्हें धक्के मारेगा ···।"

उसे लगा, वह तीस साल की बालिग नहीं, एक अधमरी चिड़िया है।

"प्राइवेट लाइफ़ ···" वे दहाड़े।

प्राइवेट लाइफ़ ! क्या मतलब ? इन्सान की अपनी निजी ज़िंदगी, जिसमें बहुत से मिले-जुले तत्व हैं—शांति, काम, अकेलापन, दुकेलापन, दोस्त, रोमांस ···।

नहीं, प्राइवेट लाइफ़ का मतलब है ···व्यभिचार ··· !

"इसलिए अकेले रहना था ··· इसलिए ···इसलिए ···!"

क्या-क्या करती है वह। जग-भर का हक है कि जाने। किससे कितनी दूरी से बात करती है? किसे चूमती है? होठों पर या उँगलियों पर···

उसे लगा, उसने इज़्ज़त से जीना चाहा था। अपनी दुनिया बनाने की कोशिश की थी।

उसे लगा, अभी, इसी वक्त, एक बलात्कार हुआ है उसकी इंसानियत पर, उसकी बालिग़ अहमियत पर।

बचपन में उसका अस्तित्व उसके जिस्म के एक हिस्से में सारी जान, सारा जुनून लेकर बस गया था। वहीं उसकी इज़्ज़त समा गई थी।

उसे लगा, उसका अस्तित्व उसके जिस्म से फिसलकर ज़मीन पर पड़ा तड़पड़ा रहा है।

बेल-पत्र

सब्ज़ी बाज़ार में फ़ातिमा का पैर 'छप' से किसी गिलगिली चीज पर पड़ गया।

"ओफ़्···" घिन के साथ उसने पैर को अलग झटका।

"कुछ नहीं है, रीलैक्स," ओम ने झुककर देखा और दिलासा दिया, "गोबर है बस।"

पता नहीं क्यों फ़ातिमा के अंदर ऐसा तेज़ गुस्सा फूटा, "देखो, होगा गोबर तुम्हारे लिए पाक। मेरे लिए वह उतना ही घिनौना है जितनी घोड़े की लीद।"

ओम के भीतर तक कुछ हिल गया, "फ़ातिमा पागल हो जाओगी। इस तरह करोगी तो हर इशारे का दो में से एक ही मतलब होगा, हिंदू या मुसलमान।"

"अब भी सँभल जाओ," ओम कराह उठा, "तुम जिस कीच में फँस रही हो वह अभी नरम है, अभी उसमें से निकल सकती हो। पर फ़ातिमा, समझोगी नहीं तो धँसती जाओगी, और फिर वह पदार्थ ठोस हो जाएगा···तुम उसमें अटक जाओगी, हिल नहीं पाओगी, अकड़ी रह जाओगी ···।"

दोनों स्कूटर पर सवार घर लौट आए।

अंदर शन्नो चाची आई थीं, "यह लो बेटा, शिरडी गई थी, साईं बाबा का परशाद है। बहू, यह धागा बँधवा लो।"

फ़ातिमा ने चुपचाप धागा बँधवा लिया।

उसकी आँखों में अनोखी चमक थी।

उसी शाम उसने अपना सूटकेस खोला। अम्मी ने गुलाबी और हरे गोटेदार साटिन में कुशन और जा-नमाज़ लपेट दी थीं। फ़ातिमा ने खिड़की के नीचे, कमरे के